

नाखून : मनुष्य की हिंसक मनोवृत्तिका प्रतीक

प्रा.डॉ.भगवान आदटराव
एस.बी.पाटील कॉलेज,मंद्रूप.



आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का सुप्रसिद्ध निबंध है - "नाखून क्यों बढ़ते हैं ?
"नाखून मनुष्य की आदिम हिंसक मनोवृत्तिका परिचायक है, जो बार - बार बढ़ते हैं और आधुनिक मनुष्य उन्हें हर बार काट कर हिंसा से मुक्त होने और सभ्य बनने का प्रयत्न करता है। जीवन में ऐसी अनेक सामाजिक बुराइयों से आये दिन हम सबका सामना पड़ता है। सभ्य समाज इनको नियंत्रित करने की कोशिश करता है। साधु - संत बुराइयों से दूर रहने के उपदेश देते हैं, सरकारें भी इन्हें रोकने के लिए कानून बनाती हैं, इसे एक तरह से नाखून काटना माना जा सकता है। बुराई को जड़ से खत्म करना तो संभव नहीं, लेकिन जो इनमें लिप्त होते हैं, वे समाज में प्रवाद माने जाते हैं।

नाखून क्यों बढ़ते हैं ? इस निबंध में द्विवेदीजी ने अशोक, आम, शिरीष, कुटज आदि को माध्यम न बनाकर मनुष्य के देह प्रकृति - नाखून बढ़ने की प्रवृत्तिके बहाने मनुष्य के वास्तविक स्वरूप और उसकी नियति की विवेचना की है। दूसरे विश्वयुद्ध के सामयिक संदर्भ ने इस विवेचन को आश्चर्यजनक रूप से महत्त्वपूर्ण बना दिया है। मनुष्य के इतिहास में हिरोशिमा का हत्याकांड बार - बार थोड़े की हुआ है। मनुष्य जीवन की रक्षा के लिए नाखून से शुरु करके पत्थर, लकड़ी, हड्डी, लोहे के हथियारों से होता हुआ आबंदकों और बमों तक क्यों आ पहुँचा? क्या हिंसा उसकी मूल वृत्ति है, क्या बढ़ते हुए एनाखून इसीकी सूचना देते हैं? प्रजातीय विकास के क्रम में सींग और पूँछ झड़ गई मगर नाखून अब तक बने हुए हैं। क्या यहीं बताने के लिए मनुष्य की हिंसा वृत्तिका कभी नाश न होगा? अब भी प्रकृति मनुष्य को उसके भीतर वाले अस्त्र से वंचित नहीं कर रही है। अब भी वह याद दिला देती है कि तुम्हारे नाखून को भूलाया नहीं जा सकता। तुम वही लाख वर्ष पहले के नख - दंतावलंबी जीव हो। पशु के साथ एक ही सतह पर विचरने वाले और चरने वाले।

समय के साथ मनुष्य की हिंसा वृत्ति घटने के बजाए बढ़ती ही जा रही है। उसी प्रकार जिस प्रकार काटते रहने के बावजूद नाखून बढ़ते रहते हैं। तब क्या मनुष्यता के लिए कोई आशा नहीं है? वे कोई और होंगे जो हिरोशिमा जैसे हत्याकांडों को देखकर हर तरह के हताश होकर बैठ जाते हैं। द्विवेदीजी किसी भी हालत में मनुष्य और मनुष्यता से आशा नहीं छोड़ते। वे आशा के लिए मनुष्य के सांस्कृतिक इतिहास की ओर देखते हैं। मनुष्य के साथ पशुता लगी हुई लेकिन वह निरंतर उससे जूझता रहा है। पशुता को पछाड़कर आगे बढ़ता रहा है क्योंकि 'पशु बनकर वह आगे नहीं बढ़ सकता।' दरअसल मनुष्य देह मात्रा नहीं है, इंद्रिय - मात्रा नहीं है, केवल नाम और बुद्धि तक भी सीमित नहीं है, वह उसके भी आगे जा सकता है। जैविक धरातल उसके सबसे निम्न स्तर को सूचित करता है। मनुष्य इस पशु - सामान्य जैविक धरातल से ऊपर उठ कर उस क्षेत्रों में विकास करता रहा है। जैसे जैसे सामाजिक क्षेत्रों में आगे बढ़ता है उस हद तक उसका विकास होता जाता है। और इस क्षेत्रों में मनुष्यों के लिए विकास की अपरंपार संभावनाएं हैं। मनुष्य को अगर आगे बढ़ना है तो उसे जैविक धरातल से ऊपर उठना होगा, पशु - सुलभ हिंसावृत्तिको त्यागना होगा। अस्त्र बढ़ाते जाने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाना होगा। दूसरा उपाय नहीं है - न्याय: पंथा विद्यते अन्यायः। इसीलिए भारतीय संस्कृति में इंद्रियों और मन के नियंत्रण का, संयम और त्याग का इतना महत्त्व है। द्विवेदीजी लक्ष्य करते हैं कि अंग्रेजी में जो अनधीनता है, वह हमारी भाषा में 'स्वाधीनता' है। हमारी समूची परंपरा ही अनजान में हमारी भाषा द्वारा प्रकट होती है। स्वाधीनता अर्थात् स्व की अधीनता, स्व का नियंत्रण, आत्मसंयम। अपने द्वारा अपने आप को लगाया बंधन। हमारी संस्कृति की बड़ी भारी विशेषता है। वे महाभारत को याद करते हैं, जो सभी वर्गों के लिए सामान्य धर्म के रूप में सत्य और अक्रोध की शिक्षा देता है। द्विवेदीजी का निष्कर्ष है - 'आत्मनिर्मित बंधन ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है।' जो नेता समझते हैं कि महज प्रचुर उत्पादन से मनुष्य सुखी हो जाएगा उन्हें वे गांधीजी की

याद दिलाते हैं जिन्होंने कहा था कि बाहर नहीं भीतर देखो। हिंसा को, मिथ्या को, क्रोध और व्देष को मन को मन से दूर करो। लोक के लिए कष्ट सहो, आराम की बात मन सोचो।' मगर गांधीजी को गोली मार दी गई, पशुता ही हावी हुई।द्विवेदीजी ने निबंध का अंत ' सफलता' और ' सार्थकता' की अवधारणा से किया है। गांधीजी ने आत्मसंयम का जो रास्ता बताया था वह ' मनुष्य की वास्तविक चरितार्थता' का रास्ता था। हथियारों के अंधाधुंध निर्माण और संग्रह से, उनके प्रयोग से ' क्षणिक सफलता' तो मिल सकती है लेकिन वास्तविक चरितार्थता नहीं। हथियारे की होड़ बढ़ती जाती है बाह्य उपकरणों का भंडार बढ़ता जाता है, इससे सभ्यता और संस्कृति का निर्माण और विकास नहीं होता। सभ्यता और संस्कृति का निर्माता तो सजीव और चेतन मनुष्य हैं। हमे हथियारों की नहीं, मनुष्य की सोचना चाहिए। ' मनुष्य की चरितार्थता प्रेम में है, मैत्री में है, त्याग में है, अपने को सबके मंगल के लिए निःशेष भाव से दे देने में है। फिर यहीं नाखून की बात पर लौटते हुए द्विवेदीजी उपसंहार करते हैं, ' नाखूनों का बढ़ना मनुष्य की उस अंध सहजात बहु वचन वृत्तिका परिणाम है जो उसके जीवन में सफलता ले आना चाहती है। उसको काट देना उस स्वनिर्धारिता आत्मबंधन का फल है, जो उसे चरितार्थता की ओर ले जाती है। नाखून बढ़ते हैं तो बढ़ें, मनुष्य उन्हें बढ़ने नहीं देगा।

इस प्रकार द्विवेदीजी के व्यक्ति व्यंजक निबंध उन्हीं की कसौटी के मुताबिक हृदय की अनुभूतियाँ को व्यापक और संवेदनाओं को तीक्ष्ण बनाते हैं। 'अशोक के फूल' में उन्होंने भारतीय संस्कृति के जिस समन्वित स्वरूप का उद्घाटन किया, ' आम फिर बौरा गए' में उसी का पुनराख्यान किया। ' शिरीष के फूल' और ' कुटज' दोनों संघर्ष और अपराजेय जीवन - बोधसा की एक ही भूमि पर रचे गए हैं। ' देवदारु' शब्द और अर्थ, छंद और लय के शास्त्रीय विवेचन से कुछ बोझिन हो गया है और उसमें उनके अन्य निबंधों जैसा प्रवाह भी नहीं है लेकिन ' नाखून क्यों बढ़ते हैं' में विचारों की ऊंचाई के साथ - साथ गजब का प्रवाह भी है। मनुष्य के वास्तविक स्वरूप, मानवीय नियति और सभ्यता - समीक्षा की दृष्टि से ' नाखून क्यों बढ़ते हैं?' हिंदी के व्यक्ति व्यंजक निबंधों के इतिहास में बेजोड़ हैं।